Bodhi-Path Year 2022 July Issue Volume 23 Page No 49-62

बुद्ध एवं गाँधी के नैतिक व सामाजिक मूल्यों का दार्शनिक विवेचन

बादशाह अहमद
पीएचडी शोधार्थी
बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भूमिका

अहिंसा का सरलतम अर्थ है– हत्या का परित्याग, अहिंसा का यह भी एक आम धरणा है कि यह किसी को किसी भी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाना है। किसी को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं देनी है। गाँधीजी की अहिंसा की अवधरणा तत्वमीमांसीय है, इसलिए वे अहिंसा को साधन कहते हैं और सत्य को साध्य। गांधीजी का तर्क है कि केवल हत्था का परित्याग ही अहिंसा नहीं है बल्कि मन, वचन और कर्म से हिंसा का त्याग ही अहिंसा है। लेकिन बुद्ध की अहिंसा की अवधारणा गांधी के अवधारणा से कुछ भिन्न है, क्योंकि बुद्ध की अवधारणा तत्वमीमांसीय कम, बल्कि उनका अहिंसा का अवधारणा का दृष्टिकोण सामाजिक ज्यादा है क्योंकि बुद्ध ने सामाजिक कार्यों के द्वारा किये गये हिंसा की ओर ज्यादा ध्यान दिया था। जैसे उन्होंने यज्ञ और बलि को हास्यास्पद और निरर्थक बताया। बुद्ध ने कहा कि सभी जीवित प्राणियों में से किसी को भी हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। वहीं बुद्ध और गांधी के समानता की अवधरणाा में हमें एकरूपता दिखाई दे रही है। क्योंकि दोनों ने सामाजिक समानता के लिए प्राचीन काल से चली आ रही कुरीतियों का प्रमुखतः खण्डन किया है। जैसे–वर्ण व्यवस्था, स्त्रियों के साथ हो रहे अत्याचार, स्त्री स्वतंत्रता आदि कुरीतियों का दोनों ने अपने–अपने ढंग से खंडन किया है।

गाँधी की अहिंसा की अवधारणा

प्रथमतः हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि गांधी की दृष्टि से इस शब्द–'अहिंसा' का क्या अर्थ है। ऐसा नहीं है कि गांधी ने इस शब्द का प्रयोग सर्वथा विशिष्ट अर्थ में किया हो जो इसके प्रचलित साहचर्यों से सर्वथा भिन्न है। वैसी बात नहीं है, किन्तु यह है कि इसके अर्थ–निरुपण में गांधी ने कुछ ऐसी बातों पर बल दिया है, जिन पर सामान्यतः उतना बल नहीं दिया जाता। इसी कारण गांधी का 'अहिंसा' शब्द का प्रयोग अपने ढंग से विशिष्ट बन जाता है, जो इसके प्रचलित अर्थों के समान होते हुए भी 'गांधी' के अर्थ में अहिंसा कहा जाने लगा है।

तो अहिंसा के अर्थ की प्रारम्भिक समझ तो यही है कि वह 'हिंसा' नहीं है, हिंसा का विपरीत है। गांधी 'हिंसा' का अर्थ बड़े विश्लेषण के साथ स्पष्ट करते हैं। हिंसा के अन्तर्गत 'हत्या', 'किसी को किसी प्रकार की पीड़ा देना', 'किसी को क्षति या हानि पहुंचाना'– ये अब अवश्य आ जाते हैं, किन्तु ये अपने में हिंसा नहीं है, हिंसा के हिंसा होने के लिये इसके पीछे की मानसिकता ही प्रधान है। यदि 'प्राण लेना' या 'पीड़ा पहुंचाना' या 'क्रोध' से किसी स्वार्थ से, ईर्ष्या से, या जानबूझकर किया गया हो, तो वह हिंसा है। इन सबों का मन, वचन,

कर्म से पूर्ण त्याग अहिंसा है।[1]

कभी–कभी ऐसा होता है कि अपने अहिंसा–विचार में गांधी जैन विचार से अत्यधिक प्रभावित हैं। जैन धर्म में अहिंसा की अनुशंसा बड़े ही कठोर ढंग से की गयी है। यहाँ तो किसी के प्रति मन में बुरे विचार का आना भी हिंसा है। जैन धर्म में अहिंसा के पालन में कहा गया है कि इसका पालन मन में, वचन में तथा कर्म में– तीनों स्तरों पर होना चाहिये। इतना ही नहीं, जैन धर्म में कहा गया है कि इन तीनों स्तरों पर स्वयं तो हिंसा का त्याग करना ही है, इन तीनों स्तरों में अन्य से हिंसा करना, तथा हिंसा होने देना– ये सभी भी हिंसा ही हैं। किसी को गाली देना हिंसा है, हिंसा देख आंखें मूंद लेना भी हिंसा है। गांधी को यह अवगति है कि सामान्य जीवन में सामान्य मनुष्यों के लिये अहिंसा का इसे कठोर रूप में पालन न व्यावहारिक है– न सम्भव है, अतः वे अहिंसा के निषेधात्मक शर्तों को उतना कठोर नहीं बना देते जितना कठोर जैन धर्म में बनाया गया है। वे समझते हैं कि कुछ–कुछ परिस्थितियों में हिंसा का पूर्ण त्याग तो सम्भव नहीं है– जैसे श्वांस लेने में, खाने में, पीने में आदि। इन क्रियाओं में कुछ जीवों का हनन हो ही जाता है। तथा उससे बचना प्रायः असम्भव है। इसके अतिरिक्त गांधी यह भी मानते हैं कि कुछ विशेष परिस्थितियों में 'हिंसा' भी अनुशंसित हो सकती है। मान लें एक पागल बन्दूक लेकर लोगों की हत्या करता चल रहा है, यदि उसे अन्य ढंगों से पकड़ा नहीं जा रहा है, और वह हत्या करता ही जा रहा है, तो उसकी हत्या अनुशंसित हो सकती है।[2]

वे स्पष्ट कहते हैं कि यदि मेरे बच्चे को 'रैबी' हो जाय, तथा उपचार के सभी विकल्प समाप्त हो जाय, तो उस बच्चे को उसके भयानक कष्ट से मुक्त होने के लिये भाग्य के सहारे छोड़ देना ठीक नहीं है, बल्कि उस समय हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम उसका प्राणान्त कर दें। उनका कहना है कि भाग्यवादिता की भाग्य पर आश्रित होने की एक सीमा होती है। यदि हम उसे कष्ट से मुक्ति दिला सकते हैं तो उसे कष्ट भोगने के लिये भाग्य के सहारे छोड़ना उचित नहीं है। जब उसका कष्ट–निवारण का कोई साधन ही बचा नहीं है, तो उसे भयानक कष्ट में छोड़ देना अनुचित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी के अनुसार कुछ विशेष परिस्थितियों में प्राण–लेना अनुशंसित भी है। ऊपर दिये गये उदाहरणों में प्राण नहीं लेना ही क्रूरता है, क्योंकि वहां उसे जीवित रख कर हम उसे भयानक कष्ट दे रहे हैं। तब यह है कि इस उदाहरण में प्राण–लेना, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष या किसी प्रकार के मन के मैल से प्रेरित नहीं हैं, बल्कि एक प्रकार की करुणा अथवा दया का ही भाव है।

किन्तु यह तो अहिंसा का निषेधात्मक आयाम है, अहिंसा में क्या नहीं रहता– इसका संकेत देता हैं गांधी के लिये अहिंसा का भावात्मक पक्ष अधिक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण है। उनके लिये अहिंसा का अर्थ मात्र हिंसा का त्याग नहीं है, इसके अन्तर्गत कुछ भावात्मक लक्षण तथा मनोवृत्तियां आती हैं, अन्य जीवों के प्रति एक विशेष प्रकार के भाव की बात होती है।

अहिंसा के भावात्मक पक्ष को स्पष्ट करने के लिये गांधी एक मान्यता–एक विश्वास के साथ अग्रसर होते हैं। उनकी यह मान्यता है– उनका विश्वास है कि 'मानव' के, 'मानवीयता' के एक मूल एवं अनिवार्य लक्षणों में अहिंसा है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके अनुसार 'हिंसा' का जीवन में कोई स्थान नहीं। 'हिंसा' तो जीवन में होती ही है, अपने अस्तित्व को बचाये रखने के प्रयत्न में भी कुछ हिंसा हो जाती है, उसे स्वीकारते

---

1. डॉ. वेद प्रकाश वर्मा, नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, ऍलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2009, पृ. 363–64
2. डॉ. वेद प्रकाश वर्मा, नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, ऍलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2009, पृ. 364–365

हुए भी गांधी कहते हैं कि 'अहिंसा' मानव जाति के जीवन का एक मूल नियम है। इसकी एक पहचान तो यह है कि 'हिंसा' के द्वारा जो उपलब्धियां होती हैं, वे टिकाऊ नहीं होतीं, उनमें स्थायित्व नहीं होता। हिंसा पर किसी सर्जनात्मकता को शाश्वतरूप में स्थापित नहीं किया जा सकता। गांधी का कहना है कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि यदि शुभ उद्देश्य तथा कल्याण के अभिप्राय से भी हिंसा के प्रयोग से अत्याचारी या बेईमानों को हटाया गया है, तो उस हिंसा के प्रयोग के कारण, वे भी स्वयं उन्हीं कुरीतियों तथा अशुभ रूपों के शिकार हो जाते हैं जिन्हें दूर करने के लिये उन्होंने हिंसा का सहारा लिया था।

गाँधी का कहना है कि इस प्रकार की अहिंसा तथा प्रेम से मानव की गरिमा, प्रतिष्ठा तथा आदर और उच्चतर ही हो जाता है। गांधी का कहना है कि अहिंसा का पालन करने वाला झुकता नहीं है, विरोधी को ही झुकना पड़ता है। वह तो क्षमाशीलता की पराकाष्ठा है, तथा उसके असीम प्रेम एवं क्षमाशीलता के कारण अन्ततः आततायी को अपने किये पर शर्म आती है।

गाँधी के अनुसार इस प्रकार की अहिंसा के पालन का एक महत्त्वपूर्ण तथा प्रमुख शर्त और है। अहिंसा का पालन तब तक सम्भव नहीं है, जब तक ईश्वर में अटूट आस्था न हो। अहिंसा के पालन के लिये जिस असीम शक्ति की आवश्यकता होती है, वह सभी उत्पन्न हो सकती है जब ईश्वर में पूर्णरूप से सक्रिय, सजीव तथा अटूट आस्था है। इसी आस्था के आधार पर ही हर व्यक्ति, अन्य को 'ईश्वर में आस्था' 'मानवता के प्रति प्रेम' में परिणत हो जायगा। ऐसे ही प्रेम के उत्पन्न होने पर ही अहिंसा का उपयुक्त पालन सम्भव है। मानव–मात्र की एकता की अनुभूति में मानव–मात्र के लिये एक स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न होगा, तथा इस प्रेम के उत्पन्न होने का आधार 'ईश्वर में अटूट आस्था' ही हो सकती है।[3]

महात्मा गाँधी की समानता की अवधारणा

महात्मा गाँजी जी का चरित्र–चित्रण करते हुए रोम्यारोला ने कहा है कि महात्मा गांधी एक के बाद एक क्रियागत प्रयोग करते जाते हैं और वे सीधी लीक पर आगे बढ़ते रहते हैं, लेकिन रूकते कभी नहीं है। इसलिए यदि कोई उनके विषय में, उन्होंने दस वर्ष पहले क्या कहा इसके आधार पर कोई धारणा बनाना चाहे तो गलती ही करेगा, क्योंकि उनका चिंतन सतत विकासमान है। पहले वे मानते थे कि ईश्वर सत्य है– ईश्वर के उदारतम गुणों में से एक, किन्तु अब वे कहते हैं कि सत्य ही ईश्वर है, सत्य की शक्ति को स्वीकारने से तो नास्तिक भी इंकार नहीं कर सकता।[4]

मुझे उस नाशवान ऐच्छिक राज्य की कोई अभिलाषा नहीं है मैं तो ईश्वरी राज्य को पाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। इस प्रकार मेरी देशभक्ति और कुछ नहीं, अपनी चिरमुक्ति और शांति लोक की मंजिल का एक विधान है। दक्षिण अफ्रीका में गोरे कहते थे कि उसे नहीं मारना चाहिए। क्योंकि मारने से उस पर थूकने का मौका नहीं मिलेगा। गाँधीजी राग और द्वेष से ऊपर उठे हुए थे, तभी तो दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों से मार खाने के बाद मुर्च्छित होने के पश्चात् जब पुनः होश में आये तब मारने वाले के मन में रत्ती भर भी आक्रोश नहीं था। मुस्कुराते हुए उठे और यह माना कि हम अपने देश में जो अस्पृश्यता का पाप करते हैं, उस पाप को आज कुछ

---

3 सुजाता, गाँधी की नैतिकता, सर्व सेवा संघ–प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी 2012, पृ. 19–20

4 सुजाता, गाँधी की नैतिकता, सर्व सेवा संघ–प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी 2012, पृ. viii

प्रायश्चित हुआ। अंग्रेज हमसे घृणा करते हैं यदि वह गलत है तो हम अपने ही देश के अपने ही भाईयों से जो घृणा करते हैं, वह कितना बड़ा पाप है।[5]

महात्मा गांधी का इस बात में कतई विश्वास नहीं था कि कोई भी जन्मजात विशेष होता है। मेरे मत में दुनिया में कोई भी जगह या जाति ऐसी नहीं जिससे उपयुक्त अवसर मिले या उचित शिक्षा दी जाये तो सुन्दर से सुन्दर पुष्प मानव न खिल सके।

महात्मा गांधी इतने संवेदनशील थे कि हरिजनों की पीड़ा को देखकर उनके हृदय में ऐठन होने लगती और ईश्वरीय सत्ता में उनका विश्वास नहीं होता तो शायद वह पागल हो जाते। ऐसी उनकी खुद की स्वीकारोक्ति है।

अस्पृश्यता सम्बन्धी मेरे विचार कालान्तर में बदले। ऐसे समय आने के पहले ही मैं हिन्दू धर्म ही नहीं संसार के धर्म मात्र का त्याग कर सकूंगा किन्तु मेरी यह दृढ़ धारणा है कि हिन्दू धर्म का पूर्वोक्त कलंक से मुक्त करने में यदि शरीर भी छोड़ देना पड़े तो यह कोई बड़ी बात नहीं। जिस धर्म में नरशी मेहता जैसे समदर्शी भगवत् भक्त हो उसमें अस्पृश्यता की भावना का रह सकना सम्भव नहीं है।[6]

हिन्दू अन्त्यजों के सेवा करते हैं तो इस में वे उन पर कोई उपकार नहीं करते बल्कि अपने ऊपर ही उपकार करते हैं। अपने अन्त्यज कहे जाने वाले भाईयों को अन्त्यज बनाने के लिए हिन्दू ही उत्तरदायी है। ऐसा करके इन्होंने जो पाप किया है। उसका मार्जन और प्रायश्चित् वह जितना करे, कम है। अस्पृश्ययों की सेवा अथवा उनके साथ नया करने का क्या अर्थ है। इसका केवल यही अर्थ है कि सदियों से चढ़े ऋण से मुक्त हो जाना तथा युगों से हम जिस पाप के भागी बने रहे हैं उसका कुछ प्रायश्चित् हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता आज जिस रूप में प्रचलित है वह मेरी राय में ईश्वर और मनुष्य के प्रति पाप है। और इसलिए वह जहर की तरह और धीरे–धीरे हिन्दू धर्म को ही खोखला किए जा रहा है। यदि मुझे पता चले कि हिन्दू शास्त्र सचमुच अस्पृश्यता के वर्तमान रूप का समर्थन करते हैं तो मैं हिन्दू धर्म को छोड़ देता किन्तु मैंने पाया है ऐसा नहीं है।[7]

गांधी जी कहते हैं कि इस बात का प्रचार किया जा रहा है कि अस्पृश्यता निर्मूल्य नहीं हो सकती जिस प्रकार मनुष्य आंख से देख सकता हैं उसी प्रकार मैं प्रत्यक्ष देख रहा हू कि अस्पृश्यता नष्ट होने को है। काल चक्र की गति को कोई भी मनुष्य आज तक रोकने में समर्थ नहीं हुआ है। अगर हम अपनी इच्छा से उन्हें अपना लेंगे और जितने अधिकार हमारे हैं। सब उन्हें दे देंगे तो ईश्वर के दरबार में ईश्वर के खाते में हमारा यह पुण्य कार्य माना जायेगा।

महात्मा गांधी ने परदा प्रथा का भी विरोध किया है उनका मानना था कि हमें कितनी ही बहनों के दर्शन नहीं होते क्योंकि वे परदे में रहती है। मैं इन बहनों, और भाईयों से भी जो उन्हें परदे में रखने के लिए उत्तरदायी है, कहता हूँ कि हम अपने आधे शरीर को कुचल जाने की स्थिति में भारत का कार्य नहीं कर सकते जिन बहनों ने यहां परदे में बैठने की व्यवस्था का अनादर करके स्वातंत्रतापूर्वक बाहर खुली हवा में बैठना

---

5 वही, पृ. xiii-ix
6 सुजाता, गाँधी की नैतिकता, सर्व सेवा संघ–प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी 2012, पृ. 58
7 वही, पृ. 59

पसन्द किया है उसके लिए इन्हें बधाई देता हूँ। गाँधी जी का विचार है कि स्त्रियों की सामाजिक समानता के लिए इस आडम्बर रूपी परदा प्रथा का बन्द होना, इसलिए भी जरूरी है क्योंकि गांधीजी के अनुसार– सच्ची बात तो यह है कि परदा कोई बाह्य वस्तु नहीं है, वह एक आंतरिक वस्तु है। बाहर परदा करने वाली कितनी ही स्त्रियां निर्लज्ज पायी जाती है जो बाह्य रूप से परदा नहीं करती परन्तु जिसमें आंतरिक लज्जा नहीं छोड़ी वह स्त्री पूज्यनीय है और ऐसी स्त्री आज जगत में मौजूद है।

परदे से होने वाली हानियों को देखें–

1. स्त्रियों की शिक्षा में बाधा डालता है।
2. स्त्रियों की भीरूता को बढ़ाता है।
3. स्त्रियों के स्वास्थ्य को बिगाड़ता है।
4. स्त्रियों और पुरुषों के बीच होने वाले स्वच्छ सम्बन्धों में बाधक बनता है।
5. स्त्रियों में नीच विकृति का पोषण करता है।
6. परदा स्त्रियों को बाह्य जगत से दूर रखता है, इसलिए उन्हें उसका योग्य अनुभव नहीं हो पाता है।
7. परदा अर्धांगिनी धर्म, सहचारी धर्म में बाधा डालता है।
8. परदाशील स्त्रियां स्वराज्य में हरगिज अपना पूरा हिस्सा नहीं दे सकती।
9. ये बाल शिक्षा में रूकावट होती है।

इन सभी हानियों को देखते हुए सभी विचारशील लोगों का धर्म है कि वे परदे को तोड़ दें।[8] स्त्रियों के सामाजिक समानता का गांधी जी समर्थन करते हुए कहते हैं कि स्त्री पुरुष की सहचारिणी है, उसकी मानसिक शक्ति पुरुष के सामान्य ही है और उसे पुरुष की छोटी सी छोटी प्रवृति भाग लेने का अधिकार है। जितनी स्वतंत्रता पुरुष को है उतनी ही स्वातंत्रता भोगने का अधिकार उसे भी है जैसे पुरुष अपने क्षेत्र में सर्वोपरि है, वैसे ही स्त्री अपने क्षेत्र में सर्वोपरि है। यह स्थिति स्वाभाविक होने चाहिए। गांधी जी ने स्त्री के विधवा जीवन का खण्डन किया है। और विधवा पूर्ण विवाह का समर्थन किया है। उनका तर्क है कि विधवा पूज्य है, उनका तिरस्कार करना पाप है। उसका दर्शन शकुन है, उसे अपशकुन मानना पाप है। वे कहते हैं कि यदि विधवाएं पुर्नविवाह करना चाहे तो उनका तिरस्कार न करें, उनका जाति बहिष्कार न करें।

गांधी जी ने सती प्रथा का भी बहिष्कार किया है वे कहते हैं कि विवाह शरीर का नहीं आत्मा का है और अगर विवाह एक शरीर विशेष जीव के साथ ही सम्बन्ध माना जाये तो शरीर के नष्ट होने पर उस सम्बन्ध का भी अन्त हो जाता है। और आत्महत्या करने से तो शरीर पुनः नहीं मिल सकता तब फिर एक के शरीर के नाश होने पर दूसरे को शरीर नाश करने में क्या सार है? इसलिए गांधीजी कहते हैं कि हिन्दू सती प्रथा एक कुप्रथा है जिसका खत्म होना समाज के लिए एक भलाई होगी।

''बुद्ध की अहिंसा की अवधारणा''

गौतम बुद्ध ने पाँचवीं सदी ईसा पूर्व में अहिंसा की अवधारणा की वकालत कर अपनी मुख्य शिक्षाओं में

[8] सुजाता, गाँधी की नैतिकता, सर्व सेवा संघ–प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी 2012, पृ. 58–59

शामिल किया, सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया तथा इसे तुलनीय अच्छाई बताया। चक्र के निशान को जो धर्म–युद्ध का प्रतीक था, को धर्म–शान्ति के प्रतीक चिह्न धर्मचक्र में परिवर्तित करके बौद्ध धर्म ने अहिंसा के क्षेत्र में मौलिक योगदान दिया।[9] बौद्ध अहिंसा अन्तर्दृष्टि को विविध क्षेत्रों, जैसे कि पर्यावरणीय आचारसंहिता, दैनिक जीवन, अन्य प्राणियों से सम्बन्ध तथा उनके प्रति नैतिक विचार, एवं समाज में किनारे कर दिए गए वर्गों की दशा को समझने की आवश्यकता, में निश्चित रूप से लागू किया जा सकता है।

बौद्ध धर्म अहिंसा की मनोवृत्ति के आन्तरिक अनुभव तथा अहिंसात्मक कार्य के रूप में इसकी बाह्य अभिव्यक्ति, दोनों को दो भिन्न चीजें मानता है। इस प्रकार, बुद्ध ने अपना अहिंसा का दर्शन इस सामान्य तथ्य पर आधारित माना है कि यद्यपि अहिंसा का पूर्णतया पालन कठिन हो सकता है परन्तु हृदय में अहिंसा की मनोवृत्ति को पूर्ण तौर से उत्पन्न करना असंभव नहीं है। दूसरे शब्दों में, अहिंसा का वास्तविक पालन जीवन, जिसके प्रतिवादों को हल करना कठिन है, कि सही पहचान के आधार पर ही किया जा सकता है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए बुद्ध ने अहिंसा के कार्य को अनावश्यक रूप से कठोर नियमों से आबद्ध नहीं किया। इस प्रकार का सन्तुलित तथा विवेकपूर्ण अहिंसा का सिद्धान्त मानव सभ्यता के लिए संभवतः बौद्ध धर्म की अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है।[10]

जीवित प्राणियों के प्रति अहिंसा, जो कि बौद्ध धर्म का प्रथम शिक्षापद है, संपूर्ण प्रकृति में पाए जाने वाले आपसी आकर्षण तथा अच्छाई के सिद्धान्त पर आधारित है। जान–बूझकर हिंसा करने का तात्पर्य है, अन्तर्निहित अखण्डता को बाधित और नष्ट करना तथा सम्मान और करुणा, जो मानवता के आधार है, कि भावनाओं को कुण्ठित करना। सचमुच, यह शिक्षापद जीवन तथा सृष्टि को आमंत्रित तथा मृत्यु और विनाश की निन्दा करता है। जान–बूझकर हत्या करना, चाकू मारना, गला दबाना, डूबो देना, कुचलना, जहर देना, जला देना या अन्य तरीके से किसी मनुष्य या जानवर को पीड़ित करना– यह शिक्षापद केवल इन सब तरीकों से ही दूषित नहीं होता। किसी को किसी जीवित प्राणी को मारने, प्रताड़ित करने या हानि पहुंचाने के लिए उकसाना भी प्रथम शिक्षापद का उल्लंघन करना है। हालांकि हिंसा वचनों, मन व कार्यों द्वारा की जा सकती है, प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म ने मुख्य रूप से कार्यों द्वारा की गई हिंसा की ओर अधिक ध्यान दिया था। विभिन्न प्रकार के यज्ञ एवं बलियाँ, विशेषकर वे जिनमें पशुओं की बलि चढ़ाई जाती थी, बुद्ध द्वारा उन्हें न केवल हास्यास्पद एवं निरर्थक बताया गया है बल्कि अक्षम्य क्रूरता भी। एक ओर उन्होंने यज्ञों की उपादेयता को नकारा, वहीं दूसरी ओर जीवित प्राणियों के जीवन का अत्यंत सम्मान भी किया। उनके अनुसार, ''सभी जीवित प्राणियों में से किसी को भी हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।[11]

अहिंसा के अभ्यास का आधार दया, हितकामना (हितानुकम्पा) तथा जीवित प्राणियों की हिंसा तथा हानि पहुँचाने जैसी क्रूरता से लज्जता अनुभव करना है। इस प्रकार से बौद्ध धर्म में अहिंसा का करुणा तथा लज्जा से एकीकरण कर दिया गया है। जहाँ कहीं किसी दिल में करुणा है, वह बाहरी तौर पर अहिंसा के कार्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। अहिंसा एक भव्य कार्य माना जाता है क्योंकि यह न केवल जिसके लिए

---

9 प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्‌भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 69

10 प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्‌भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 70–71

11 प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्‌भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 72

किया जाता है उसे, बल्कि उसके लिए तो इसका पालन करता है, सुखद परिणाम देता है। दूसरी ओर, जो घृणा करते हैं, न केवल दूसरे को हानि पहुंचाते हैं बल्कि स्यं को भी दुःखी करते हैं। जीवित प्राणियों की हिंसा एक शर्मनाक तथा गलत कार्य है क्योंकि यह करुणा की भावना के विरुद्ध है। तथापि, जब कोई अहिंसा का पालन करता है तब वह प्रेम की सच्ची भावना का अनुभव करता है तथा सुख पाता है। इस प्रकार के सुख की प्राप्ति को आध्यात्मिक रूप से अत्यनत उदात्त अवस्था कहा जाता है। इस प्रकार, अहिंसा में आनन्दित होना तथा मैत्रीपूर्ण चित्त की भावना पैदा करना एक समान ही हैं। अतः मैत्रीपूर्ण चित्त का विकास तभी संभव है जब सभी जीवित प्राणियों की खुशी, सुख तथा भलाई की कामना की जाए। बौद्ध धर्म में अहिंसा को इस अर्थ में बताया गया है कि सभी व्यक्ति अपने जीवन से प्यार करते हैं और किसी अन्य से हानि पहुँचने या मारे जाने की इच्छा नहीं रखते हैं। आत्मरक्षा तथा स्वयं से प्यार की इस भावना को अन्य व्यक्तियों के चिन्तन में हस्तांतरित किया जाता है और इस प्रकार जीवन की रक्षा तथा जीवन से प्यार को प्रोत्साहित किया जाता है। उदाहरण के लिए धम्मपद इसी विचार को दुहराते हुए कहता है कि जैसे सभी मृत्यु से डरते हैं, वैसे ही दूसरों की तुलना स्वयं से करते हुए किसी की न तो हिंसा करनी चाहिए और न ही हिंसा का कारण बनना चाहिए।[12]

अहिंसा का अनुपालन व्यक्ति को प्रेम का सच्चा अनुभव कराता है और इससे सुख की प्राप्ति होती है, और इसके अतिरिक्त इस सुख को आध्यात्मिक रूप से अतिरेक आनन्द की अवस्था माना जाता है। करुणायुक्त हृदय के विकास का तात्पर्य है यह इच्छा व्यक्त करना कि सभी जीवित प्राणी सुख, शान्ति तथा कल्याण की अवस्था को प्राप्त करें तथा तब अपने अन्दर असंख्य तथा अनन्त प्रकार के जीवों के प्रति करुणा उत्पन्न करें, तथा इस प्रकार, सभी जीवों को करुणा के चिन्तन की परिधि में लाएँ। इसे ही अपरिमेय मैत्री (मेता–अप्पमज्जा) से युक्त मन कहा गया है। पुनः यह तथ्य कि अहिंसा का आधार मैत्रीयुक्त मन है, मन की मुक्ति के सिद्धान्त से मन की शक्ति (मेत्ता–चेतोविमुत्ति) के द्वारा इसका विलय भी हो जाता है। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि मैत्रीयुक्त मन के विकास द्वारा मन को शान्ति मिलती है तथा इस प्रकार साधक मुक्ति को प्राप्त करता है।

उपासकों और उपासिकाओं से जिस पंचशील के पालन को कहा गया है उनमें पहला है जीव हिंसा से बचना (प्राणीतिपाता वेरमणी सिक्खापद)। इसके परिणामस्वरूप उपासक और उपासिकाएँ जीवित प्राणियों की हिंसा से बचने का प्रयास न केवल मानसिक रूप से करते हैं, बल्कि इसे कार्यरूप में भी परिणत करते हैं। मानसिक रूप से जागरूक होने के बावजूद, यदि कोई व्यक्ति अपने प्रत्यक्ष जीवन में किसी विशेष अवसर का पालन नहीं करता है तब शिक्षापद का उल्लंघन माना जाता है। इस शिक्षापद के इस प्रकार से उल्लंघन का अर्थ है अहिंसा के प्रति दृढ़संकल्प होते हुए भी, इस संकल्प का विरोध करनेवाली स्वार्थी इच्छाओं का बहुत ही शक्तिशाली होना। इस प्रकार की परिस्थितियों में, अप्रत्याशित रूप से इस शिक्षापद के उल्लंघन के लिए पश्चाताप होता है तथा इस प्रकार इसकी स्वीकृति (पटिदेसना) की जाती है। तथापि, यही स्वीकृति निश्चित रूप से हृदय से होनी चाहिए।[13]

पेड़–पौधे को हानि पहुँचाने पर भी रोक है तथा, इस प्रकार, बुद्ध के अनुसार एक आदर्श व्यक्ति

---

[12] The Dhammapada, Ed. & Tr. Nareda Thera, Kuala Lumpur, Buddhist Missionary Society, 1978, p. 129

[13] प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 74

प्राणिजात तथा वनस्पति–जीवन (बीजगाम भूतगाम) को हानि पहुँचाने से बचता है। उन्होंने सबसे ''जीव–जन्तुओं के प्रति करुणा रखने'' का आग्रह किया। बुद्ध के विचार में मानवीय मनोभाव को केवल मानवों तक ही सीमाबद्ध न किया जाए बल्कि उसका विस्तार तभी सचेतन जीवों तक हो जो करुणा के उतने ही भागी बन सकें जितने कि मानव स्वयं। बुद्ध ने समझाया कि ''किसी भी जीवित प्राणी के जीवन का अन्त न किया जाए, चाहे वह कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो।'' यहाँ तक कि हरी घास या पानी में बचे हुए भोजन को फेंकना भी मना है क्योंकि दोनों जगह, घास या पानी में रहनेवाले जीवों को हानि पहुँच सकती है। उनके अनुसार ''जीव–जन्तुओं की मार–काट करना, उनके प्रति क्रूर होना, रक्तमोचन करने, उन्हें हानि पहुँचाने या उनकी हत करने की मंशा रखना तथा जीव–जन्तुओं के प्रति दया की भावना न रखना... (जैसी प्रवृत्तियाँ) आयु को कम करती हैं'' तथा उन्होंने इन्हें घृणास्पद (आमगन्ध) माना है। बुद्ध ने यहाँ तक कहा कि ''हमें अपने जीवन को बनाए रखने के लिए भी जान–बूझकर अन्य जीवों की हत्या नहीं करनी चाहिए।'' भिक्षुओं को मिट्टी खोदने की अनुमति नहीं थी। पानी को पीने के पहले अवश्य ही छान लिया जाना चाहिए क्योंकि इसमें जीवित प्राणी होते हैं तथा वही ''फल खाना चाहिए जिनमें अभी बीज न हुए हों... या ... बीज न बचे हों।''[14]

बौद्ध धर्म में अहिंसा के सिद्धान्त के दो पहलू हैं: 1. नकारात्मक, ऐसी अहिंसा जो करुणा, आत्म–निरोध तथा दुःख दर्द को दूर करने की इच्छा से प्रेरित होती है तथा 2. सकारात्मक, ऐसी अहिंसा जो पहले के समान उद्देश्य, इच्छा तथा अभिप्राय से प्रेरित होती है। दूसरे शब्दों में, सकारात्मक निष्पक्ष विचारों को ध्यान में रखकर की गई हिंसा को अहिंसा की ही अभिव्यक्ति माना जाता है। अतः अहिंसा का द्वैध सिद्धान्त यथार्थवादी है। नकारात्मक पक्ष इस तथ्य की पहचान पर आधारित है कि वास्तविक तौर पर सारे संसार की मृत्यु तथा विनाश से अभिशप्त है। कोई भी इस संकार में किसी न किसी प्रकार की हिंसा किए बिना अपने जीवन को बनाए नहीं रख सकता। अहिंसा के सकारात्मक पहलू में नैतिक आदर्श की प्रकृति सम्मिलित है जिसके बिना सामाजिक, मानवीय या अंतरिक्षीय व्यवस्था नहीं बनी रह सकती। हिंसा से पूर्णतः दूर नहीं रहा जा सकता, अतः विशेष संकटपूर्ण परिस्थितियों में इससे बचना असम्भव है। दूसरे शब्दों में, विशेष परिस्थितियों में अहिंसा के नकारात्मक पहलू का प्रयोग अपरिहार्य है। अहिंसा के नकारात्मक सिद्धान्त के प्रयोग के कई उदाहरण दैनिक जीवन में देखे जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, दर्द दूर करने की दृष्टि से की गई हिंसा, या स्त्रियों के सम्मान का हिंसक बचाव। बौद्ध धर्म मनुष्य तथा जानवर एवं वनस्पति व बीज आदि के बीच भिन्नता में विश्वास करता है। हालांकि दोनों को नष्ट करना या उन्हें क्षति पहुंचाना पाप माना गया है, लेकिन पाप की मात्रा में अन्तर है। एक वृक्ष को काटने की तुलना में किसी मनुष्य की हत्या में अधिक पाप उपार्जित होता हैं इसी प्रकार, ऐसे आदमी की हत्या, जिसका दिमाग कम विकसित हो, की तुलना में विकसित दिमाग वाले आदमी की हत्या में अधिक पाप उपार्जित होता है।

1. गौतम बुद्ध के जन्म के समय तक, पुरुष–प्रधानता व पितृसत्तात्मकता भारतीय समाज के मुख्य स्तंभ बन चुके थे जिसमें परिवार जैसे एक सामाजिक ढाँचे के माध्यम से महिलाओं को नियंत्रित व सुरक्षित रखना आवश्यक माना जाने लगा था। लड़की का जन्म न केवल अनिच्छित, बल्कि

---

[14] प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 76

दुर्भाग्यपूर्ण भी माना जाता था। बहुपत्नी–प्रथा, हरम व वेश्यावृत्ति जैसी महिलाओं को निम्नीकृत करनेवाी सामाजिक कुरीतियाँ भारतीय सामाजिक व आर्थिक जीवन का अभिन्न अंग चुकी थीं। पत्नी की पिटाई आम बात थी और ऐसी महिला को एक आदर्श पत्नी माना जाता था तो खुद को पति के सामने पूरी तरह समर्पित कर देती थी, उसे पूजती (पतिदेवता) थी और उसके चरणों में गिरकर (पादपरिचारिका) खुद को धन्य समझती थी। ऐसी स्त्रियाँ आदर्श पत्नी मानी जाती थीं। दहेज (इत्थिधन) आज की ही तरह एक सच्चाई थी और महिलाएँ यदा–कदा वस्तुओं की तरह भी बेची जाती थीं। विनय में ऐसे ब्राह्मणों के कई उदाहरण हैं जिन्होंने भिक्षुणियों को वेश्याएँ कहा। ये कहानियाँ बुद्ध काल के दौरान ब्राह्मण सम्बन्धी सामाजिक वातावरण में भिक्षुणियों की एक झलक प्रस्तुत करती हैं। उदाहरण के लिए :

> अब उस समय कई भिक्षुणियाँ कोशल प्रदेश होते हुए श्रावस्ती जा रही थीं, शाम में किसी गाँव पहुँचने पर उन्होंने एक ब्राह्मण परिवार में रात बिताने हेतु शरण माँगी। तब उस ब्राह्मणी ने इन भिक्षुणियों से यह कहाः
>
> ''आप तब तक प्रतीक्षा कीजिए, जब तक ब्राह्मण आ नहीं जाते।''
>
> तब वह ब्राह्मण रात में आता है और ब्राह्मणी से पूछता है : ''कौन हैं ये?''
>
> ''स्वामी, ये भिक्षुणियाँ हैं।''
>
> यह कहते हुए, ''इन सिर–मुंडी रंडियों को बाहर निकालो'', वह उन्हें घर से बाहर निकाल देता है।''[15]

2. गौतम बुद्ध और उन्हीं की तरह विचार रखने वाले आनन्द जैसे उनके शिष्यों का महिलाओं के प्रति बड़ा ही सकारात्मक व क्रांतिकारी रूख था। बुद्ध ने पुरुषों व महिलाओं दोनों के समान हित के लिए अपने संघ के दरवाजे खोले। यह एक ऐसा रूख था जो उस समय के लिए एक असाधारण बात थी और जिसे बुद्ध व आनन्द द्वारा ऐसे रूख को अपनाया जाना परंपरागत लिंगीय विकृति से परे सद्गुण व आध्यात्मिक संभावना को पहचानने की ओर से किए गए प्रयासों को प्रतिबिंबित करता है। बड़ी संख्या में महिलाओं ने इस अवसर का लाभ उठाया। बुद्ध ने नारी को ज्ञानी, मातृत्वशील, सृजनात्मक, भद्र व सहिष्णु के रूप में स्वीकार किया। बुद्ध की शिष्याओं में कई ऐसी महिलाएं थीं जो मानसिक एवं दैहिक दुःखों, जो मानवीय अस्तित्व के यथार्थ हैं, से पूर्ण मुक्त होकर अर्हत् बनीं। कुछ भिक्षुणियों की अपनी खुद की शिष्याएँ थीं और वे न केवल धम्म के प्रतिपादन में सक्षम थीं, बल्कि बुद्ध या उनके कुछ दूसरे वरिष्ठ भिक्षुओं की मध्यस्थता के बिना भी दूसरी प्रतिभागिनियों को पूर्ण मुक्ति दिला सकती थीं। यह मानने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सबसे आरंभिक मठीय समूह में महिलाएँ न केवल स्पष्ट रूप से उपस्थित थीं, बल्कि कर्ता व शिक्षक के रूप में भी उन्हें प्रमुख व सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बुद्ध ने भिक्षुणी–संघ की स्थापना करके महिलाओं के लिए नए क्षितिजों को खोला। महिलाओं के लिए यह सामाजिक व आध्यात्मिक उन्नति उस समय की दृष्टि से काफी आगे थी

---

[15] प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 89

और इसलिए पुरुषों, विशेषकर भिक्षुओं, ने इस पर गंभीर आपत्ति की होगी। लेकिन बुद्ध के प्रभावी व शक्तिशाली व्यक्तित्व ने ऐसी आपत्तियों को पास नहीं फटकने दिया होगा। हमारे विचार में, महाप्रजापति गौतमी से संबंधित आठ नियमों सहित कई प्रतिबंध व प्रतिकूल परिस्थितियाँ, जिनका संदर्भ आरंभिक बौद्ध साहित्य में मिलता है, बुद्ध की मृत्यु के बाद महिलाओं पर थोपी गई थीं और इस प्रकार ये महापरिनिर्वाण के बाद के काल के क्षेपक थे। कई प्रगकार की प्रतिकूल परिस्थितियों व उत्पवीड़नों के होते हुए भी, विहारों में शिक्षा और खाली समय की सुविधा के साथ–साथ व्यक्तिगत नैतिक सर्वोच्चता की भावना ने अनेक महिलाओं को एक संगठित जीवन की अज्ञात संभावनाओं की ओर प्रेरित किया होगा। विहारों में महिलाएं घर से बाहर की गतिविधियों में सक्रिय हो सकती थीं, जैसे–धर्मप्रचार, संगठनात्मक कौशलों का विकास, और तो और, ऐसा वातावरण जिसमें वे अपनी उपलब्धियों का अनुभव कर सकती थीं। दुर्भाग्यवश, भिक्षुणी–संघ ज्यादा समय तक जीवित नहीं रह सका।[16]

3. बुद्ध की मृत्यु के बाद कम–से–कम, जहाँ तक महिलाओं का प्रश्न है, एक शून्य उत्पन्न हुआ। बुद्ध जैसे महान व्यक्तित्व के अभाव में आनन्द जैसे महिलाओं के मुट्ठी भर बचे समर्थकों को संघ के उन भीतरी तत्त्वों ने अभिभूत कर दिया, जो महिलाओं के प्रवेश को एक अपमान की बात मानते थे। यह राजगृह में आयोजित पहली बौद्ध संगीति में विशेष रूप से मुखर हुआ जहाँ संघ में महिलाओं के प्रवेश के लिए आनन्द को उत्तरदायी ठहराकर उनकी कड़ी आलोचना की गई। महारिनिर्वाणोत्तर काल में, बौद्ध संघ एक ऐसी संस्था बन गया जिस पर एक बड़े शक्तिशाली उभयकेंद्रित–पितृसत्तात्मक शक्ति–ढाँचे का प्रभुत्व किया गया। काल के उसी चक्र में बौद्ध संघ ने ब्राह्मणवाद के महिला–विरोधी रुख को गले लगाया जिसने लगातार महिलाओं को अपूर्ण, दुष्ट, नीच, कपटी, विध्वंसक, विश्वासघाती, नमकहराम, अविश्वासी, चरित्रहीन, गिरी हुई, कामुक, ईर्ष्यालु, लालची, बेलगाम, मूर्ख व फिजूलखर्जीली जैसे विशेषणों से विभूषित किया था। इस रूख से यह विश्वास सशक्त हुआ कि महिलाएँ पुरुषों द्वारा कुचली, नियंत्रित व विजित की जाएं इस प्रकार के तर्क ने भिक्षुणी–संघ के अस्तित्व को प्रत्यक्षतः जड़ से उखाड़ फेंका और महिलाओं के अस्तित्व को हाशिये पर ला खड़ा किया।[17]

ऐसा प्रतीत होता है कि महापरिनिर्वाणोत्तर बौद्ध संघ में सामान्यतया वही महिलाएँ प्रवेश कर पाती थीं जो या तो सम्राट अशोक की पुत्री संघमित्रा की भाँति समाज की नैतिकता के आम नियमों से ऊपर थीं या फिर वे औरतें जिनका आगे पीछे कोई नहीं था और जो समाज की नैतिकता की सीमा से बाहर निकल चुकी थी। लेकिन दशा या परिस्थितियाँ जैसी भी रही हों, महिलाओं को एक अच्छा अवसर मिला। एक उभयकेंद्रित–पितृसत्तात्मक समाज में यह बड़ी नाजुक स्थिति रही होगी जिसमें एक ओर तो मर्यादा को लेकर भिक्षुओं और भिक्षुणियों को एक–दूसरे से पर्याप्त अन्तराल बना कर रखना पड़ता था और दूसरी ओर संघ को महिलाओं के एक ऐसे स्वायत्त गुट की सामाजिक अस्वीकृति से निपटना पड़ता था जो किसी पुंजातीय शक्ति के सीधे नियंत्रण में नहीं था। भिक्षुओं के साथ औपचारिक रूप से सम्बद्ध होने के कारण भिक्षुणियाँ बिना तात्कालिक हानि उठाए गृहस्थ जीवन छोड़ने का लाभ उठा सकती थीं। महिलाओं के प्रति गलत रुख के लिए, जिसके कारण ऐसे संरक्षण की

---

16 प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 90

17 वही, पृ. 90–91

आवश्यकता पड़ी, समाज का खण्डन किया जाना तो ठीक लगता है लेकिन ऐसी नीति अपनाने के लिए संघ की आलोचना ठीक नहीं है। अब अपने भविष्य को अपने ही हाथों में लेकर वे अपनी दशा में सुधार कर सकती थीं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि महिला के सबसे बड़े शत्रु परिवार, विवाह और प्रसूति थे (और हैं)– जहाँ उसका मर्दों द्वारा एक बच्चे पैदा करने व पालने की मशीन के तौर पर शोषण किया जाता था। यह तथ्य कोई न्यून उपलब्धि नहीं है कि बौद्ध धर्म ने महिलाओं को इन सब संस्थाओं से न केवल मुक्ति पाने का बल्कि उन्हें खुद को संयोजित करने का मौका भी दिया।

बुद्ध की समानता संबंधी अवधारणा

किसी सामाजिक मुद्दे का विश्लेषण करते समय ध्यान में यह तथ्य रखना आवश्यक है कि प्राचीन भारत का इतिहास उच्च जाति के लोगों का इतिहास है। लगभग किसी भी स्रोत में समाज की विभिन्न निम्न जातियों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। बुद्धकाल के आरम्भ होने तक भारतीय समाज में जाति–व्यवस्था वृहत् विषमता के साथ सुस्थापित हो चुकी थी। वह वृत्तिमूलक और वंशानुगत दोनों ही रूपों में दृढ़ हो चुकी थी। वण्ण शब्द, जिसका अर्थ सामाजिक वर्ग, क्रम या जाति होता है, का उपयोग पालि साहित्य में सामान्यतः न सिर्फ प्राणियों के विभाजक–चिह्न के रूप में हुआ है, बल्कि यह जाति–विभाजन के चिह्न को भी दर्शाता है।[18]

गौतम बुद्ध का ऐसे विचारों के विरुद्ध मुख्य तर्क यह था कि समाज में जन्म के अनुसार कोई उच्च या निम्न नहीं होता। उन्होंने स्पष्टतः कहा कि किसी भी मनुष्य की स्थिति का निर्धारण समाज में उसके कर्म से होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य का व्यवहार (कर्म) ही उसे उच्च और निम्न बनाता है। गौतम बुद्ध को अपने सामाजिक दर्शन की यह सरल शिक्षा दबंग ब्राह्मणों को समझाने में काफी कठिनाई हुई। भारतीय समाज में उनकी शिक्षाओं के बेहद लोकप्रिय होने के बावजूद, बुद्ध को उनके प्रसार में ब्राह्मणों के शक्तिशाली विरोध का सामना करना पड़ा। पालि साहित्य में बुद्ध के साथ तत्कालीन अनेक प्रतिष्ठित ब्राह्मणों से हुई वार्तालापों की चर्चा मिलती है। इस सम्बन्ध में दीघ निकाय का अम्बट्ठ सुत्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह सुत्त मुख्यतः जाति–समस्या के संदर्भ में है। अम्बट्ठ जो कि एक शिक्षित ब्राह्मण था, वह अपने गुरु के आदेश पर बुद्ध के पास यह जानने गया कि गौतम बुद्ध को समाज में जो मान–सम्मान प्राप्त है, वे उसके वास्तविक अधिकारी हैं या नहीं। अम्बट्ठ को ब्राह्मण जाति का होने का बहुत घमण्ड तोड़ने के लिए उसे बताया कि उसकी वंशावली का आरम्भ शाक्यों की एक दासी के पुत्र से हुआ था। आगे चली वार्तालाप में गौतम बुद्ध ने उसे बताया कि यदि वंशावली को ध्यान में रखा जाए तो क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं, लेकिन नैतिक तौर पर श्रेष्ठ व्यक्ति का बाह्य व्यवहार उसके आंतरिक ज्ञान का परिणाम होता है और विद्या तथा चरण से युक्त ऐसा व्यक्ति मनुष्यों और देवताओं सबों में श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार बुद्ध ने उसे समझाया कि निर्वाण–प्राप्ति के लिए अपनाया जानेवाला धार्मिक जीवन जाति–भेद से स्वतंत्र होता है।[19]

नैतिकता और आध्यात्मिकता कोई जन्म से दी गई विशेष छूट नहीं है, बल्कि यह सभी को उपलब्ध

---

18 प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्‌भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 111

19 प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्‌भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 114

है। गौतम बुद्ध ने यही शिक्षा दी कि नैतिक नियम के समक्ष, जाति महत्त्वपूर्ण न होकर, सभी लोग बराबर है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार ऐसा कोई कारण नहीं जिसकी वजह से किसी एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों को दास और जन्म से नीच समझकर उन पर वंशानुगत रूप से शासन करें तथा उनके स्वामी बने रहें। बौद्धों के विचारानुसार जो भी कार्य किया जाता है, उसका कोई आनुवांशिक महत्त्व नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति समाज में उच्चतम स्थान प्राप्त करने की क्षमता रखता है बशर्ते कि उसके पास कुछ करने की इच्छा और क्षमता हो। इसी विचार के आधार पर बुद्ध ने संघ के द्वार सभी के लिए, समाज रूप से चाहे वे जन्म से किसी भी जाति के हों, खोल दिए। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार से गंगा, यमुना, अचिरावती, सरयू और माही जैसी महान नदियां समुद्र में मिलने पर अपनी पहचान खो देती हैं, उसी प्रकार संघ में आने के बाद चारों जातियाँ अपने प्रारंभिक नाम और पहचान खो देती हैं।

गौतम बुद्ध ने क्षत्रियों और वैश्यों के श्रेष्ठ होने के दावे का भी खण्डन किया। उन्होंने जोर देकर कहा कि मनुष्य जन्म से ब्राह्मण होने की प्राचीन विचारधाराओं की तुलना में गौतम बुद्ध ने सही ब्राह्मण होने की शील और प्रज्ञा नामक दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड प्रस्तुत किए। बाद के बौद्ध विचारकों ने भी मनुष्यों की समानता पर जोर दिया है। उदाहरणस्वरूप, वज्रसूची में अश्वघोष कहते हैं कि ''चतुर्वर्णीय सिद्धांत बिल्कुल गलत है। सभी मनुष्यों की श्रेणी एक है।''

बौद्ध धर्म स्पष्टतः उल्लेख करता है कि बुद्धों व बोधिसत्वों का जन्म केवल क्षत्रिय या ब्राह्मण परिवारों में हो सकता है, अन्य किसी जाति में नहीं। ऐसे ही दास के गर्भाशय से जन्म लेने वाला व्यक्ति कभी भी बोधिसत्व नहीं हो सकता।

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने संतुलित विचार प्रकट करते हुए कहा है कि हालाँकि यह सत्य है कि बौद्ध धर्म को अधिपतियों, व्यापारियों और समकालीन कुलीन जातियों से सहयोग प्राप्त था लेकिन इसे इसी रूप में देखना उचित नहीं होगा। उनके अनुसार कई कारणों से बौद्ध धर्म का ''भारतीय इतिहास में सबसे बड़ा सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन'' बनना नियत था। उनका विश्वास था कि जातीय व्यवस्था के अन्यायपूर्ण व्यवहार के प्रति बुद्ध का रूख और ब्राह्मणों के धार्मिक अनुष्ठानों पर आक्रमण, लोगों को आकर्षित करने के महत्त्वपूर्ण कारण थे। लेकिन चट्टोपाध्याय यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि बुद्ध ने संघ को जनजातीय मान्यताओं के आधार पर प्रतिरोपण करके स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की एक मरीचिका पैदा की, जबकि वास्तविकता यह थी कि इन मान्यताओं को संघ के बाहर की दुनिया में कुचला जा रहा था।[20]

यद्यपि प्रभावशाली जातीय व्यवस्था ने वास्तव में बौद्ध विचारधारा को भी प्रभावित किया था, फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि बुद्ध ने निम्नों में भी निम्नतम के लिए अपने संघ के द्वार खोल दिए ताकि वे निर्वाण का सुख प्राप्त कर सके। गौतम बुद्ध ने शिक्षा प्रदान करने में किसी प्रकार का भी भेदभाव नहीं किया। जैसा कि टी.डब्ल्यू. रायस डेविड्ज़ ने इंगित किया है जहां तक किसी व्यक्ति के संघ (समाज का एकमात्र अंग जिस पर बुद्ध का संपूर्ण नियंत्रण था) में प्रवेश की बात थी, जन्म, पेशा, सामाजिक स्तर के हानि–लाभ से उसका कोई लेना–देना नहीं था। अपने विचार के समर्थन में उन्होंने विनयाचारिय उपालि (नाई), सुनीत (पुस्सकुस), साति (मछुआरा), सुभा (लोहार की बेटी) तथा पुण्णा और पण्णिका (युवा दासियाँ) का

[20] प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 132

उदाहरण दिया है। लेकिन श्रीमती राय डविड्ज कहती हैं कि संघ के बाहर बुद्ध ने लोकविचार को निरन्तर बुद्धिसम्पन्न विचारों के माध्यम से प्रस्तुत करके प्रभावित करने का प्रयास किया। उन्होंने आगे सुत्त–निपात के आमगन्ध सुत्त का उदाहरण दिया है जिसमें बुद्ध ने बताया है कि इस या उस व्यक्ति के द्वारा बनाया या दिया गया खाना, इसके या उसके द्वारा खाने से कोई दोष नहीं होता है बल्कि बुरे कर्म, बुरी बात और बुरे विचार से दोष होता है। असल में, रायस, डेविड्ज़ का विचार था कि यदि बुद्ध के विचारों को सफलता प्राप्त हो जाती, तब सामाजिक वर्गीकरण और भिन्नता अलग प्रकार से विकसित होते और जाति–व्यवस्था कभी भी निर्मित न होती।[21]

बुद्ध ने तर्क प्रस्तुत किया कि जिस प्रकार राजा या दरबारी को सारा राजस्व केवल अपने ही लिए नहीं रखना चाहिए, उसी तरह ब्राह्मणों और श्रमणों को ज्ञान पर एकाधिकार नहीं जमाना चाहिए। बौद्ध विचार के तहत किसी भी जाति का कोई भी व्यक्ति शिक्षक बन सकता है और शिक्षक चाहे शूद्र, चण्डाल या पुक्कुस हो, हमेशा सम्मान का हकदार होता है। बौद्ध धर्म के ऐसे प्रतिनिधिक रूख को एक जातक कहानी में व्यक्त करते हुए बताया गया है कि एक ब्राह्मण तन्त्र से हाथ धो बैठा क्योंकि उसने बदनामी से बचने के लिए अपने चण्डाल शिक्षक का आभार नहीं माना। असल में कहा जाता है कि जब कुछ शाक्य युवक और उनका नौकर व शूद्र उपालि बुद्ध के पास इकट्ठे होकर दीक्षा लेने के लिए पहुंचे तो बुद्ध ने उपालि को दीक्षा पहले दी ताकि शाक्यों का जन्म व जाति–नुमा घमण्ड दूर किया जा सके। कोई भी बौद्ध भिक्षु या भिक्षुणी भिक्षायाचना के समय लोगों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता था तथा किसी भी गृहस्थ के यहां भोजन की याचना कर सकता था या आमंत्रित किए जाने पर उसके घर पर भोजन ग्रहण कर सकता था। इसलिए यह इंकार नहीं किया जा सकता कि बौद्ध धर्म ने भारत में सामाजिक संगठन पर स्थायी प्रभाव छोड़ा है।[22]

निष्कर्ष

गाँधीजी की अहिंसा की अवधारणा तत्वमीमांसीय है, क्योंकि उनका मानना था कि ईश्वर ने हमें सत्य वचनों को बोलने के लिए भेजा है तथा सत्य द्वारा ही अहिंसा को प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन बुद्ध की अहिंसा की अवधारणा सर्वथा इनसे भिन्न है क्योंकि उनका दृष्टिकोण सामाजिक है। वहीं बुद्ध और गाँधी की समानता की अवधारणा में बड़ी मात्रा में एकरूपता दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन आज के इस बदलते युग में अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि आज वैश्विक स्तर पर हिंसा और असमानता की प्रवृत्ति बहुत तेजी से बढ़ रही है जिसके कारण आज वैश्विक स्तर पर आतंकवाद, अराजकतावाद, अलगाववाद आदि की प्रवृत्ति बहुत तेजी से बढ़ रही है और यदि हम बुद्ध और गाँधी की समानता और अहिंसा जैसे मूल्यों का प्रचार और प्रसार करें तो हम समाज में जागरूकता ला सकते हैं।

---

21 प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 133

22 प्रो.के.टी.एस. सराओ, प्राचीन बौद्ध धर्म : उद्भव, स्वरूप और पतन, हि.म.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, 2004, पृ. 134

संदर्भ ग्रंथ सूची (Bibliography)

- Gandhi, M.K., An Autobiography or the story of my experiments with Truth, Navjiwan Publishing House, Ahmedabad, 1948.
- Non-Violence in Peace and War, 2nd Edition, Navjiwan Publishing House, Ahmedabad, 1944
- Satyagrah, Non-Violent Resistance, Navajiwan Publishing House, Ahmedabad, 1951.
- Radhakrishnan, S. Ed., Mahatma Gandhi. Essays and Reflections, George Allen and Unwin Ltd., London, 1949.
- Journal Edited by Gandhi - Harijan, Ahmedabad, India (1933-48).
- Satyagrah in South Africa (translated by V.G. Desai), Adhmedabad, Javajiwan Publishing House, 1928.
- नीतिशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त : वेद प्रकाश वर्मा, हिन्दी क्रियान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
- गाँधी की नैतिकता : सुजाता, सर्वसेवा संघ, राजघाट, वाराणसी–221001.
- बापु और स्त्री : सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी–221001.
- Altekar, A.S. The Position of Women in Hindu Civilization, 3rd Edition, Delhi, Motilal Banarsidas, 1974-
- Ambedkar, B.R.., The Untouchable (Who are they? And Why they became untouchables?), New Delhi, 1948.
- Astley, Ian, (A book review of Buddhism after Patriarchy) : A Feminist History, Analysis and Reconstruction of Buddhism, in studies in Central & East Asian Religions, Vol. 4/5 (Copenhangen, Journal of the Seminar for Buddhist Studies, 1922, 3 : 208.
- पालि–हिन्दी कोश : संपादक भदन्त आनन्द कोशलाययन, नागपुर, सुगत प्रकाशन कम्पनी, 1974.